परिचय

(मूल रूप से अप्रैल १०-१४, १९६७ को अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ, न्यूयार्क के समक्ष ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा कृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत चैतन्य-चरितामृत*—भगवान् चैतन्य महाप्रभु की प्रामाणिक जीवनी—पर दिये गये पाँच प्रातःकालीन व्याख्यानों के रूप में)*

चैतन्य का शाब्दिक अर्थ है "जीवन्त शक्ति," *चरित* का अर्थ है "चरित्र" और *अमृत* का अर्थ है "अमर।" सजीव प्राणी होने के नाते हम हिलडुल सकते हैं, किन्तु एक मेज ऐसा नहीं कर सकती, क्योंकि उसमें जीवनी शक्ति नहीं है। गति (हिलना-डुलना) तथा क्रियाशीलता को जीवनी शक्ति का चिह्न या लक्षण माना जा सकता है। निस्सन्देह, यह कहा जा सकता है कि जीवनी शक्ति के बिना कोई क्रियाशीलता नहीं आ सकती। यद्यपि भौतिक अवस्था में जीवनी शक्ति रहती है, किन्तु वह *अमृत* अर्थात् अमर नहीं होती। अतएव *चैतन्य-चरितामृत* शब्दों का अनुवाद "जीवन्त शक्ति का अमर चरित्र" के रूप में किया जा सकता है।

किन्तु यह जीवन्त शक्ति अमर रूप में कैसे प्रदर्शित होती है? यह इस भौतिक ब्रह्माण्ड में मनुष्य या किसी अन्य प्राणी द्वारा प्रदर्शित नहीं की जाती, क्योंकि हममें से कोई भी व्यक्ति इन शरीरों में अमर नहीं हैं। हममें जीवनी शक्ति है, हम कार्य करते हैं और हम अपनी प्रकृति तथा वैधानिक स्थिति से अमर हैं, किन्तु हम जिस भौतिक स्थिति में लाकर रखे गये हैं, उसमें हमारी अमरता का प्रदर्शन नहीं हो पाता। *कठ-उपनिषद्* में कहा गया है कि अमरता तथा

जीवन्त शक्ति हम और ईश्वर दोनों में होती है। यद्यपि यह सच है कि हम तथा ईश्वर दोनों ही अमर हैं, किन्तु अन्तर तो है ही। हम जीव होने के नाते अनेक कर्म करते हैं, किन्तु हममें ऐसी प्रवृत्ति रहती है जिससे हम इस भौतिक प्रकृति में आ गिरते हैं। ईश्वर में ऐसी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। सर्वशक्तिमान होने के कारण वे कभी भी भौतिक प्रकृति के नियन्त्रण में नहीं आते। निस्सन्देह, भौतिक प्रकृति उनकी अचिन्त्य शक्तियों में से केवल एक शक्ति का प्रदर्शन है।

हमारे और ईश्वर के बीच का अन्तर समझने के लिए एक उदाहरण सहायक हो सकता है। हमें भूमि से आकाश में केवल बादल दिखते हैं, किन्तु यदि हम बादलों के ऊपर उड़कर जायँ तो हमें चमकता सूर्य दिखेगा। आकाश से गगनचुम्बी महल तथा शहर बहुत छोटे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के पद से यह समस्त भौतिक सृष्टि नगण्य एवं तुच्छ लगती है। बद्धजीव की प्रवृत्ति है कि वह उन ऊँचाइयों से नीचे आना चाहता है, जहाँ से विहंगावलोकन किया जा सकता है। किन्तु ईश्वर में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। माया में आ गिरने की प्रवृत्ति ईश्वर में नहीं है, जिस तरह सूर्य में यह प्रवृत्ति नहीं होती कि वह बादलों से नीचे आये। मायावादी तत्त्वज्ञानियों का मत है कि जब जीव तथा ईश्वर भी इस भौतिक जगत में आते हैं, तो दोनों ही माया के वश में रहते हैं। यही उनके दर्शन का दोष है।

हमें भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु को अपने में से एक जैसे नहीं समझने चाहिए। वे स्वयं कृष्ण हैं, सर्वोपरि व्यक्ति हैं, इसलिए वे कभी भी मायारूपी बादल द्वारा आवृत नहीं होते। कृष्ण, उनके विस्तार और यहाँ तक कि उनके उन्नत भक्त भी माया के बन्धन में कभी नहीं आते। भगवान् चैतन्य कृष्ण-भक्ति का उपदेश प्रदान करने के लिए इस पृथ्वी पर आये। दूसरे शब्दों में, वे स्वयं कृष्ण हैं जो जीवों को कृष्ण तक पहुँचने के सही मार्ग की शिक्षा देते हैं। वे उस शिक्षक की तरह हैं, जो अपने छात्र को कमजोर देखकर लेखनी लेकर लिखता है और बोलता जाता है—"इस तरह अ, आ, इ, ई लिखो।" इससे यह नहीं समझना चाहिए कि शिक्षक स्वयं अ, आ, इ, ई सीख रहा है। इसी तरह, यद्यपि भगवान् चैतन्य भक्त के वेश में प्रकट होते हैं, किन्तु हमें मूर्खतापूर्ण ढंग से यह नहीं सोचना चाहिए कि वे एक साधारण पुरुष हैं। हमें यह सदा

स्मरण रखना होगा कि भगवान् चैतन्य स्वयं कृष्ण (ईश्वर) हैं, जो हमें शिक्षा दे रहे हैं कि किस तरह कृष्ण-भक्त बना जाय और हमें इसी प्रकाश में उनका अध्ययन करना चाहिए।

भगवद्गीता (१८.६६) में भगवान् कृष्ण कहते हैं, "सभी धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

किन्तु हम कहते हैं, "अरे, शरण में जाऊँ? मेरे ऊपर तो अनेक उत्तरदायित्व हैं।"

और माया हमसे कहती है, "तुम ऐसा मत करना, नहीं तो तुम मेरे बन्धन से छूट जाओगे। मेरी चुंगाल में फँसे रहो और मैं तुम्हें लतियाती रहूँगी।"

यह सच है कि हम माया द्वारा निरन्तर उसी तरह लतियाते जा रहे हैं, जिस तरह कामुक गधे को एक गधी संभोग के लिए आते समय मुख पर लात मारती है। इसी प्रकार से कुत्ते तथा बिल्लियाँ भी मैथुन के समय हमेशा लड़ते-झगड़ते हैं। यहाँ तक कि जंगल के हाथी को पकड़ने के लिए उसे प्रशिक्षित हथिनी के द्वारा गड्ढे तक ले जाया जाता है। हमें प्रकृति की इन चालों से शिक्षा लेनी चाहिए।

माया के पास हमें फँसाने के अनेक तरीके हैं और भौतिक जगत् में उसका सबसे प्रबल बन्धन (पाश) स्त्री है। निस्सन्देह, हम न तो पुरुष हैं, न स्त्री—क्योंकि ये उपाधियाँ हमारे बाह्य वस्त्र—शरीर को ही लागू होती हैं। वास्तव में हम सब कृष्ण के दास हैं। किन्तु बद्ध जीवन में हम सुन्दर स्त्रीरूपी लोहे की जंजीर से जकड़े हुए होते हैं। इस तरह प्रत्येक नर यौन-जीवन से बँधा है; अतएव जब भी कोई व्यक्ति भौतिक बन्धन से छूटने का प्रयास करना चाहे, तो उसे सबसे पहले अपनी काम-वासना को वश में करना सीखना चाहिए। अनियन्त्रित काम-वासना से मनुष्य पूरी तरह माया के बन्धन में फँस जाता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस माया से चौबीस वर्ष की आयु में वैराग्य ग्रहण कर लिया था, यद्यपि उनकी पत्नी सोलह वर्ष की थीं और माता सत्तर वर्ष की थीं और वे ही अपने परिवार के एकमात्र पुरुष सदस्य थे। यद्यपि वे ब्राह्मण थे और धनी नहीं थे, किन्तु उन्होंने संन्यास ले लिया और इस तरह पारिवारिक बन्धन से अपने को विलग कर लिया।

यदि हम पूर्णरूपेण कृष्णभावनामय बनना चाहते हैं, तो हमें माया के बन्धन को छोड़ना होगा। अथवा यदि हम माया के साथ बने रहना चाहते हैं, तो हमें इस तरह रहना होगा कि हम माया के वशीभूत न हों, जैसाकि भगवान् चैतन्य के घनिष्ठ भक्तों में से अनेक गृहस्थों ने किया। किन्तु संन्यासियों के प्रति भगवान् चैतन्य अत्यधिक कठोर थे—यहाँ तक कि छोटे हरिदास को जो कि एक महत्त्वपूर्ण कीर्तन गायक था, किसी युवती पर कामुक दृष्टि डालने के कारण उन्होंने निकाल दिया था। महाप्रभु ने उससे कहा—"तुम मेरे साथ एक संन्यासी के रूप में रह रहे हो, फिर भी एक स्त्री के प्रति कामुक दृष्टि से देखते हो।" दूसरे भक्तों ने हरिदास को क्षमा करने के लिए महाप्रभु से प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने उत्तर दिया, "तुम सब लोग उसे क्षमा कर उसके साथ रह सकते हो। मैं अकेला रहूँगा।" दूसरे प्रसंग में जब महाप्रभु को यह पता चला कि एक गृहस्थ भक्त की पत्नी गर्भवती है, तो उन्होंने उसके बच्चे का एक विशेष शुभ नाम रखने के लिए कहा। अतः जब महाप्रभु ने गृहस्थों के लिए संयमित संभोग की स्वीकृति दी थी, तब व्रत के दिन स्नान के बहाने डूबकी लगाकर पानी पीने की पद्धति अपनाकर दूसरों को ठगने के प्रयास करने वाले संन्यासियों के प्रति वे वज्र के समान कठोर थे। दूसरे शब्दों में, वे अपने अनुयायियों के बीच किसी भी प्रकार का कपट आचरण सहन नहीं कर सकते थे।

चैतन्य-चरितामृत हमें बतलाता है कि चैतन्य महाप्रभु ने लोगों को किस तरह माया के बन्धन तोड़कर अमर बनने की शिक्षा दी। अतएव जैसाकि पहले कहा गया है, इस शीर्षक का सही अनुवाद होगा, "जीवन्त शक्ति का अमर चरित्र।" परम जीवन्त शक्ति तो पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं। वे परम पूर्ण व्यक्ति भी हैं। जीव असंख्य हैं और वे सभी व्यक्ति हैं। इसे समझना अत्यन्त सरल है—हम सभी अपने विचारों तथा इच्छाओं में स्वतन्त्र व्यक्ति हैं और परमेश्वर भी एक व्यक्ति हैं। किन्तु वे इस बात में भिन्न हैं कि वे सर्वप्रमुख व्यक्ति हैं, जिनसे कोई पार नहीं पा सकता। क्षुद्र जीवों में एक जीव दूसरे से किसी न किसी मामले में बढ़कर हो सकता है। भगवान् भी इन सभी जीवों के समान एक व्यक्ति (व्यष्टि) हैं, किन्तु वे इस मामले में भिन्न हैं कि वे परम व्यक्ति हैं।

ईश्वर अच्युत भी हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में उन्हें सम्बोधित किया गया है। *अच्युत* का अर्थ है "जो कभी पतित नहीं होता।" यह नाम उचित है, क्योंकि *भगवद्गीता* में अर्जुन को मोह हुआ था, किन्तु कृष्ण को नहीं हुआ था। कृष्ण अपनी अच्युतता का प्रदर्शन स्वयं करते हैं, जब वे अर्जुन से कहते हैं "जब मैं जब संसार में प्रकट होता हूँ, तब मैं ऐसा अपनी अन्तरंगा शक्ति से करता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.६)

इस तरह हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि जब कृष्ण भौतिक जगत में होते हैं, तब वे भौतिक शक्ति द्वारा पराजित हो जाते हैं। कृष्ण तथा उनके अवतार कभी भी भौतिक प्रकृति के वश में नहीं होते। वे सर्वथा मुक्त रहते हैं। वस्तुत: *श्रीमद्भागवत* में ईश्वरी प्रकृति वाला व्यक्ति उसे बतलाया गया है, जो भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी उसके गुणों से प्रभावित नहीं होता। यदि एक भक्त तक ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है, तो परम भगवान् के विषय में तो कहना ही क्या?

वास्तविक प्रश्न तो यह है कि भौतिक जगत् में रहते हुए हम भौतिक कल्मष से कलुषित हुए बिना कैसे रह सकते हैं? श्रील रूप गोस्वामी हमें बतलाते हैं कि हम इस जगत् में रहते हुए तभी अकलुषित रह सकते हैं, जब हम कृष्ण की सेवा को अपना अभीष्ट बना लें। तब कोई यह उचित रूप से प्रश्न कर सकता है, "मैं किस तरह सेवा कर सकता हूँ?" यह मात्र ध्यान करने की बात नहीं है, जो केवल मन का कार्य है, अपितु यह कृष्ण के लिए व्यावहारिक कार्य करने की बात है। ऐसे कार्य में हमें किसी भी संसाधन को उसका उपयोग किये बिना छोड़ना नहीं चाहिए। जो कुछ भी हो, जो कुछ भी हमारे पास हो, उसका उपयोग कृष्ण के लिए करना चाहिए। हम प्रत्येक वस्तु का—टाइप-राइटर, मोटर-कार, हवाई जहाज, प्रक्षेपास्त्र—हर वस्तु का उपयोग कर सकते हैं। यदि हम लोगों को केवल कृष्णभावनामृत के विषय में बतलायें, तो भी हम सेवा करते हैं। इस तरह यदि हमारे मन, इन्द्रियाँ, वाणी, धन तथा शक्ति का उपयोग कृष्ण की सेवा में होता है, तो हम भौतिक प्रकृति में नहीं रह रहे हैं। आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावना के बल पर हम भौतिक प्रकृति के स्तर को पार कर जाते हैं। यह तथ्य है कि कृष्ण, उनके अंश तथा उनके

भक्त अर्थात् वे जो उनके लिए कार्य करते हैं, भौतिक प्रकृति में नहीं होते, यद्यपि अल्पज्ञ यही सोचते हैं कि वे होते हैं।

चैतन्य-चरितामृत हमें शिक्षा देता है कि आत्मा अमर है और आध्यात्मिक जगत् के हमारे सारे कार्य भी अमर हैं। मायावादी लोग, जिनका विचार है कि परम पूर्ण निर्विशेष एवं निराकार है, यह दलील देते हैं कि स्वरूपसिद्ध आत्मा को बात करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वैष्णवजन, जो कि कृष्ण के भक्त होते हैं, दलील देते हैं कि जब कोई साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त करता है, तभी वह सचमुच बोलने लगता है। वैष्णव कहता है, "इसके पहले तो हम केवल बकवास कर रहे थे, अब हम अपनी वास्तविक बातें—कृष्ण की बातें—शुरू करें।" अपने मत के पक्ष में मायावादी जल की गगरी का दृष्टान्त देते हैं। वे कहते हैं कि जब गगरी जल से भरी नहीं होती तो छलकती चलती है और आवाज करती है, किन्तु जल से भरी होने पर नहीं छलकती और आवाज नहीं करती। तो क्या हम जल की गगरियाँ हैं? हमारी उपमा उनसे कैसे दी जा सकती है? अच्छी उपमा वह है जिसमें दो वस्तुओं में यथासम्भव अनेक समानताएँ हों। जल की गगरी जीवित शक्ति नहीं है, जबकि हम हैं। नित्य मौन ध्यान जल की गगरी के लिए अच्छा हो सकता है, किन्तु हमारे लिए वह पर्याप्त नहीं है। जब सचमुच कोई भक्त यह अनुभव करता है कि उसके पास कृष्ण के विषय में कहने के लिए बहुत कुछ है, तो प्रतिदिन चौबीसों घण्टे भी कम पड़ जाते हैं। जो मूर्ख होता है उसकी ख्याति तब तक रहती है, जब तक वह मौन रहता है, क्योंकि उसका मौन भंग होते ही उसकी पोल खुल जाती है। *चैतन्य-चरितामृत* दिखलाता है कि परमेश्वर के यशोगान से अनेक अद्भुत बातों का पता चलता है।

चैतन्य-चरितामृत के प्रारम्भ में कृष्णदास कविराज गोस्वामी लिखते हैं, "मैं अपने गुरुओं को सादर नमस्कार करता हूँ।" वे यहाँ बहुवचन का प्रयोग गुरु-शिष्य परम्परा को इंगित करने के उद्देश्य से करते हैं। ऐसा नहीं है कि वे केवल अपने गुरु को नमस्कार करते हैं, वे तो पूरी परम्परा को, शिष्य-परम्परा की पूरी शृंखला को नमस्कार करते हैं, जो स्वयं कृष्ण से शुरू होती है। इस प्रकार "गुरुओं" शब्द के सम्बोधन से समस्त पूर्ववर्ती गुरुओं के प्रति लेखक का

अतीव सम्मान प्रदर्शित होता है। गुरु-शिष्य परम्परा को नमस्कार करने के बाद लेखक अन्य भक्तों को, स्वयं भगवान् को, उनके अवतारों को, ईश्वर के विस्तारों को तथा कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति के प्रकाश को प्रणाम करते हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु (जो कभी-कभी कृष्ण-चैतन्य भी कहे जाते हैं) इन सबके मूर्तरूप हैं। वे एकसाथ भगवान्, गुरु, भक्त, अवतार, अंतरंगा शक्ति तथा ईश्वर के विस्तार हैं। वे अपने पार्षद नित्यानन्द के रूप में, ईश्वर के प्रथम विस्तार हैं, अद्वैत के रूप में वे अवतार हैं, गदाधर के रूप में वे अन्तरंगा शक्ति हैं और श्रीवास के रूप में वे भक्त की भूमिका में तटस्थ जीव हैं। इस तरह कृष्ण को अकेला नहीं सोचना चाहिए, अपितु अपने समस्त सनातन प्राकट्यों के साथ विद्यमान मानना चाहिए, जैसाकि रामानुजाचार्य ने बतलाया है। *विशिष्टाद्वैत* दर्शन में ईश्वर की शक्तियाँ, विस्तार तथा अवतार विविधता में एकता माने जाते हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर इन सबों से अलग नहीं हैं, ये सभी मिलकर ईश्वर कहे जाते हैं।

वास्तव में, *चैतन्य-चरितामृत* नये भक्त के लिए नहीं है, क्योंकि यह आध्यात्मिक ज्ञान का स्नातकोत्तर अध्ययन है। आदर्श रूप में, मनुष्य को *भगवद्गीता* से प्रारम्भ करता है और *श्रीमद्भागवत* से आगे बढ़ता है और फिर *चैतन्य-चरितामृत* का अध्ययन करता है। यद्यपि ये सभी महान् शास्त्र एकजैसे परम स्तर पर हैं, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से *चैतन्य-चरितामृत* सर्वोच्च स्तर पर माना जाता है। इसके प्रत्येक श्लोक की रचना पूर्ण है।

चैतन्य-चरितामृत के दूसरे श्लोक में लेखक भगवान् चैतन्य तथा भगवान् नित्यानन्द को नमस्कार करते हैं। वे भगवान् चैतन्य तथा नित्यानन्द की उपमा सूर्य और चन्द्रमा से देते हैं, क्योंकि वे भौतिक जगत् के अन्धकार को दूर करते हैं। इस उदाहरण में सूर्य और चन्द्रमा का उदय साथ-साथ हुआ है।

पाश्चात्य जगत में, जहाँ भगवान् चैतन्य का यश एक तरह से अज्ञात है, वहाँ यह पूछा जा सकता है, "कृष्ण चैतन्य कौन हैं?" इस प्रश्न का उत्तर *चैतन्य-चरितामृत* के लेखक श्रील कृष्णदास कविराज ने अपने ग्रंथ के तीसरे श्लोक में दिया है। सामान्यतया उपनिषदों में परम सत्य को निर्विशेष रूप में बताया गया है, किन्तु *ईशोपनिषद्* में परम सत्य के साकार पहलू का उल्लेख मिलता है, जहाँ हम निम्नलिखित श्लोक पाते हैं :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे प्रभु, हे समस्त जीवों के पालक, आपका वास्तविक मुख आपके चमकीले तेज से ढका हुआ है। कृपया उस आवरण को हटा लें और अपने शुद्ध भक्तों को अपना दर्शन दें।" (*ईशोपनिषद्*, मन्त्र १५) निर्विशेषवादियों (मायावादियों) में इतनी क्षमता नहीं होती कि वे ईश्वर के तेज को पार करके उस परम पुरुष तक पहुँच सकें, जिनसे यह प्रकाश उत्सर्जित होता है। किन्तु *ईशोपनिषद्* परमेश्वर की एक स्तुति है। ऐसा नहीं है कि उसमें निर्विशेष ब्रह्म का निषेध किया गया है, उसका वर्णन तो है ही, किन्तु उस ब्रह्म को भगवान् कृष्ण के शरीर का जाज्वल्यमान तेज कहा गया है। और *चैतन्य-चरितामृत* से हमें पता लगता है कि भगवान् चैतन्य स्वयं कृष्ण हैं। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण चैतन्य ही निर्विशेष ब्रह्म के आधार हैं। परमात्मा, जो कि हर जीव के हृदय में और ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु के भीतर विद्यमान हैं, चैतन्य महाप्रभु के अंशस्वरूप मात्र हैं। इसलिए श्रीकृष्ण चैतन्य ब्रह्म तथा सर्वव्यापी परमात्मा दोनों के आधार होने के कारण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। इस प्रकार वे छः ऐश्वर्यों से युक्त हैं। ये हैं धन, यश, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य। संक्षेप में, हमें जानना चाहिए कि वे ही कृष्ण हैं, परमेश्वर हैं और न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर है। उनसे श्रेष्ठ किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। वे परम पुरुष हैं।

एक विश्वस्त भक्त श्रील रूप गोस्वामी, जिन्हें भगवान् चैतन्य ने लगातार दस दिनों से अधिक काल तक शिक्षा दी थी, उन्होंने लिखा है :

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

"मैं उन परम भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य को सादर नमस्कार करता हूँ, जो अन्य किसी अवतार, यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण से भी अधिक वदान्य हैं, क्योंकि वे उस वस्तु को बिना मूल्य के प्रदान कर रहे हैं, जिसे अभी तक किसी ने नहीं दिया है—और वह है कृष्ण का शुद्ध प्रेम।"

भगवान् चैतन्य अपनी शिक्षाएँ कृष्ण शरणागति से ही शुरू करते हैं। वे

कर्मयोग, ज्ञानयोग या *हठयोग* जैसे मार्गों का अनुसरण नहीं करते, अपितु वे भौतिक अस्तित्व के उस छोर से शुरू करते हैं, जहाँ मनुष्य अपनी सारी भौतिक आसक्ति का परित्याग कर देता है। *भगवद्गीता* में कृष्ण आत्मा को पदार्थ से पृथक् बतलाते हुए अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं और अठारहवें अध्याय में उस बिन्दु पर समाप्त करते हैं, जहाँ आत्मा भक्ति में उनका शरणागत हो जाता है। मायावादी लोग वहीं अपनी बात समाप्त कर देते हैं, किन्तु वास्तविक विवेचना तो वहीं से शुरू होती है। *वेदान्त-सूत्र* का शुभारम्भ—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* से होता है : अब हम सर्वोपरि परम सत्य के विषय में पूछताछ प्रारम्भ करें।" इस तरह रूप गोस्वामी चैतन्य की प्रशंसा सभी अवतारों में से परम दयालु अवतार के रूप में करते हैं, क्योंकि वे भक्ति के सर्वोच्च स्वरूप को बतलाकर सबसे बड़ा उपहार प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे किसी के भी द्वारा पूछे जाने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

भक्ति एवं भगवत्-साक्षात्कार की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। एक तरह से जो भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह भक्ति के स्तर पर स्थित होता है। किन्तु ईश्वर को महान् स्वीकार करना कुछ ही तो है, किन्तु अधिक नहीं। भगवान् चैतन्य ने आचार्य के रूप में यह शिक्षा दी कि हम ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और सचमुच ही ईश्वर के मित्र, माता-पिता या प्रियतमा बन सकते हैं। *भगवद्गीता* में कृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखलाया, क्योंकि अर्जुन उनका परम प्रिय मित्र था। किन्तु कृष्ण को समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी के रूप में देखकर अर्जुन ने अपने इस मैत्री-भाव के लिए क्षमा माँगी। भगवान् चैतन्य इससे भी आगे निकल जाते हैं। भगवान् चैतन्य के माध्यम से हम कृष्ण के मित्र बन सकते हैं और इस मैत्री की कोई सीमा नहीं होगी। हम आदर या गौरव में नहीं, अपितु पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कृष्ण के मित्र बन सकते हैं। यहाँ तक कि हम अपने को ईश्वर के पिता या माता के रूप में सम्बन्धित भी मान सकते हैं। यह दर्शन न केवल *चैतन्य-चरितामृत* का है अपितु *श्रीमद्भागवत* का भी है। विश्व में ऐसे कोई अन्य शास्त्र नहीं हैं, जिसमें ईश्वर को भक्त के पुत्र रूप में माना गया हो। सामान्यतया ईश्वर को परम शक्तिमान पिता के रूप में देखा जाता है, जो अपने पुत्रों की माँगों को पूरा करने

वाले हैं। किन्तु कभी कभी बड़े-बड़े भक्त अपनी भक्ति के आचरण में ईश्वर को अपने पुत्र के रूप में देखते हैं। तब पुत्र माँगता है और पिता तथा माता उन माँगों को पूरा करते हैं और कृष्ण की इच्छापूर्ति करते समय भक्त पिता या माता के समान बन जाता है। इस तरह ईश्वर से लेने के स्थान पर हम ईश्वर को देने लगते हैं। इसी सम्बन्ध के कारण कृष्ण की माता यशोदा ने भगवान् से कहा, "यहाँ बैठो और खाओ, नहीं तो तुम मर जाओगे। ठीक से खाओ।" इस प्रकार कृष्ण हर वस्तु के स्वामी होने पर भी अपने भक्त की कृपा पर आश्रित रहते हैं। यह मैत्री का अद्वितीय स्तर है, जिसमें भक्त अपने आपको वास्तव में कृष्ण का पिता या माता मानता है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु का सबसे बड़ा उपहार उनकी यह शिक्षा थी कि कृष्ण को अपना प्रेमी मानना। इस सम्बन्ध में भगवान् अपने भक्त पर इतने आनुरक्त रहते हैं कि वे प्रेम-विनिमय करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कृष्ण वृन्दावन की गोपियों के इतने अनुगृहीत थे कि वे अपने आपको उनके प्रेम का बदला देने में असमर्थ अनुभव करते थे। उन्होंने उनसे कह दिया, "मैं तुम्हारे प्रेम का प्रतिदान देने में असमर्थ हूँ, मेरे पास लौटाने के लिए कुछ भी नहीं है।" इस तरह प्रेमी तथा प्रेमिका के श्रेष्ठतम स्तर पर सम्पन्न की गई भक्ति का ज्ञान चैतन्य महाप्रभु ने ही प्रदान किया। इसे किसी पूर्ववर्ती अवतार या आचार्य ने कभी नहीं दिया था। अतएव श्रील रूप गोस्वामी के कथन के आधार पर कृष्णदास कविराज ने अपने इस ग्रंथ के चौथे श्लोक में लिखा है, "भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु सुनहरे वर्ण में कृष्ण हैं और वे मता शची के पुत्र हैं, शचीनन्दन हैं। वे उदारतम पुरुष हैं, क्योंकि वे सबको कृष्ण-प्रेम प्रदान करने के लिए आये। आप सब लोग उन्हें सदैव अपने हृदय में रखें। उनके माध्यम से कृष्ण को समझना सरल होगा।"

हम प्राय: यह वाक्यांश सुनते हैं "भगवत्प्रेम।" इस भगवत्प्रेम को कहाँ तक विकसित किया जा सकता है, इसे वैष्णव दर्शन से सीखा जा सकता है। भगवत्प्रेम का सैद्धान्तिक ज्ञान तो अनेक स्थानों में तथा अनेक शास्त्रों में मिल जायेगा, किन्तु वह भगवत्प्रेम वास्तव में है क्या और इसे किस तरह विकसित किया जाता है, इसे तो वैष्णव साहित्य में ही पाया जा सकता है। श्री चैतन्य

महाप्रभु के द्वारा तो भगवत्प्रेम अद्वितीय एवं सर्वोच्च विकास को प्राप्त हुआ है।

इस भौतिक जगत् में भी हमें प्रेम का अल्प ज्ञान हो सकता है। तो यह कैसे सम्भव होता है ? यह हमारे मूल भगवत्प्रेम की उपस्थिति के कारण होता है। इस बद्ध जीवन में हमें जो भी अनुभव प्राप्त होता है, वह उन परमेश्वर में स्थित रहता है, जो प्रत्येक वस्तु के चरम स्रोत हैं। परमेश्वर के साथ अपने मूल सम्बन्ध में हम वास्तविक प्रेम पाते हैं और वही प्रेम भौतिक परिस्थितियों के द्वारा विकृत रूप में प्रतिबिम्बित होता है। हमारा वास्तविक प्रेम सतत एवं अन्तहीन होता है, किन्तु इस जगत् में जब वही प्रेम विकृत रूप में प्रतिबिम्बित होता है, तो इसमें निरन्तरता का अभाव रहता है और वह उन्मादयुक्त हो जाता है। यदि हम वास्तविक दिव्य प्रेम चाहते हैं, तो हमें अपने प्रेम को प्रेम के उन सर्वोपरि पात्र—भगवान् कृष्ण—के प्रति स्थानान्तरित करना होगा। कृष्णभावना का यही मूलभूत सिद्धान्त है।

भौतिक चेतना में हम उस वस्तु से प्रेम करना चाहते हैं, जो रंचमात्र भी प्रेम के योग्य नहीं है। हम अपना प्रेम कुत्तों और बिल्लियों को देते हैं और साथ ही यह खतरा मोल लेते हैं कि मरते समय यदि हमने उनके विषय में सोचा, तो परिणामस्वरूप हमें कुत्तों या बिल्लियों के परिवार में जन्म लेना पड़ सकता है। मृत्यु के समय हमारी चेतना हमारे बाद के दूसरे जीवन को निश्चित करती है। यही एक कारण है कि वैदिक शास्त्र स्त्रियों के सतीत्व पर इतना अधिक बल देते हैं। यदि एक स्त्री उसके पति के प्रति अत्यधिक आसक्त है, तो मृत्यु के समय वह अपने पति के बारे में सोचेगी और दूसरे जीवन में वह एक पुरुष के शरीर को उन्नत होगी। साधारणतया एक पुरुष का जीवन स्त्री के जीवन से अच्छा होता है, क्योंकि एक पुरुष को आध्यात्मिक विज्ञान को समझने के लिए अच्छी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

किन्तु कृष्ण चेतना इतनी उत्तम है कि यह पुरुष और स्त्री में कोई भेद नहीं करती। *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "जो कोई—चाहे स्त्री, शूद्र, वैश्य अथवा निम्नयोनि में उत्पन्न कोई व्यक्ति—मेरा आश्रय ग्रहण करता है, वह निश्चित रूप से मेरा संग प्राप्त करता है।" यह कृष्ण का आश्वासन है।

चैतन्य महाप्रभु हमें सूचित करते हैं कि प्रत्येक देश में तथा प्रत्येक शास्त्र में भगवत्प्रेम का कुछ न कुछ संकेत मिलता है। किन्तु कोई भी यह नहीं जानता कि यह भगवत्प्रेम वास्तव में है क्या। किन्तु वैदिक शास्त्र इस मामले में अलग हैं, क्योंकि वे किसी व्यक्ति को भगवत्प्रेम का सही मार्गदर्शन करा सकते हैं। अन्य शास्त्र इसकी कोई जानकारी नहीं देते कि मनुष्य किस तरह ईश्वर से प्रेम कर सकता है। न ही ये शास्त्र वास्तव में इसकी परिभाषा देते हैं या वर्णन करते हैं कि वास्तव में ईश्वर *क्या* या *कौन* हैं? यद्यपि वे औपचारिकता की दृष्टि से भगवत्प्रेम का संवर्धन करते हैं, किन्तु उन्हें इसका कोई भी ज्ञान नहीं है कि इसे किस तरह सम्पन्न किया जाय। किन्तु चैतन्य महाप्रभु इसका व्यावहारिक प्रदर्शन करते हैं कि माधुर्य भाव में ईश्वर से किस तरह प्रेम किया जाय। श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीमती राधाराणी की भूमिका (भाव) ग्रहण करते हुए कृष्ण से प्रेम करने का प्रयास करते हैं, जैसाकि राधाराणी ने कृष्ण से प्रेम किया था। कृष्ण सदा ही राधाराणी के प्रेम से चकित रहते थे। वे पूछते थे, "राधाराणी मुझे इतना आनन्द किस तरह देती है?" राधाराणी का अध्ययन करने के लिए कृष्ण ने उनकी भूमिका ग्रहण की और अपने आपको समझने का प्रयास किया। भगवान् चैतन्य के अवतार का यही रहस्य है। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण हैं, किन्तु हमें यह दिखाने के लिए कि कृष्ण से किस तरह प्रेम किया जाय, उन्होंने राधाराणी का भाव या उनकी भूमिका ग्रहण की। इसीलिए लेखक पाँचवे श्लोक में लिखते हैं, "मैं उन परम भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो सदैव राधाराणी के भावों में मग्न रहते हैं।"

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि श्रीमती राधाराणी कौन हैं और राधा-कृष्ण क्या हैं? वास्तव में राधा-कृष्ण प्रेम का विनिमय है—किन्तु यह कोई सामान्य प्रेम नहीं है। कृष्ण की अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनमें से तीन प्रमुख हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था। अन्तरंगा शक्ति के भी तीन विभाग हैं—*सम्वित्, ह्लादिनी* तथा *सन्धिनी*। ह्लादिनी शक्ति तो कृष्ण की आनन्ददायिनी शक्ति है। सारे जीवों में यह आनन्द की कामना करने वाली शक्ति है, क्योंकि सारे जीव आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं। यह जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस समय हम इस भौतिक जगत् में अपने शरीर के द्वारा अपनी ह्लादिनी शक्ति का भोग

करने का प्रयास कर रहे हैं। हम शारीरिक सम्पर्क द्वारा भौतिक इन्द्रिय-विषयों से आनन्द प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु हमें मूर्खतावश कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि कृष्ण जो सदैव आध्यात्मिक हैं, हमारी तरह इस भौतिक स्तर पर आनन्द की खोज करते हैं। *भगवद्गीता* में कृष्ण ने इस भौतिक ब्रह्माण्ड को नश्वर तथा दु:खों से भरा बतलाया है। तो फिर वे भौतिक पदार्थ में आनन्द की खोज क्यों करेंगे? वे परमात्मा हैं और उनका आनन्द भौतिक धारणा से परे है।

यह जानने के लिए कि कृष्ण किस प्रकार आनन्द का उपभोग करते हैं, हमें *श्रीमद्भागवत* के पहले नौ स्कंधों को और फिर दसवें स्कंध को पढ़ना चाहिए, जिसमें उनकी ह्लादिनी शक्ति का प्रदर्शन राधाराणी तथा व्रज की सुन्दरियों के साथ उनकी लीलाओं के रूप में हुआ है। दुर्भाग्यवश अज्ञानी व्यक्ति तुरन्त ही दशम स्कंध में कृष्ण-लीलाओं की ओर उन्मुख होते हैं। सामान्यतया कृष्ण द्वारा राधाराणी का आलिंगन अथवा गोपियों के साथ उनके रासनृत्य को सामान्य लोग नहीं समझ पाते, क्योंकि वे इन लीलाओं को संसारी काम-वासना के सन्दर्भ में देखते हैं। वे मूर्खतावश सोचते हैं कि कृष्ण उन्हीं के समान हैं और वे गोपियों का आलिंगन उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार एक साधारण पुरुष किसी तरुणी का आलिंगन करता है। इस तरह कुछ लोग कृष्ण में इसीलिए रुचि दिखलाते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि उनका धर्म यौनाचार की अनुमति देता है। यह कृष्णभक्ति या कृष्ण-प्रेम नहीं है, अपितु *प्राकृत-सहजिया* अर्थात् भौतिकतावादी काम-वासना है।

ऐसी त्रुटियों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम समझें कि वास्तव में यह राधा-कृष्ण हैं क्या? राधा तथा कृष्ण अपनी लीलाओं का प्रदर्शन कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति के माध्यम से करते हैं। कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति के अन्तर्गत ह्लादिनी शक्ति सर्वाधिक कठिन विषय है और जब तक कोई यह न जान ले कि कृष्ण क्या हैं, तब तक वह इसे नहीं समझ सकता। कृष्ण इस भौतिक जगत् में कोई आनन्द नहीं लेते, किन्तु उनके पास ह्लादिनी शक्ति रहती है। चूँकि हम भी कृष्ण के अंश हैं, अतएव हमारे भीतर भी ह्लादिनी शक्ति है, किन्तु हम उस ह्लादिनी शक्ति को पदार्थ में प्रदर्शित करना चाहते हैं। किन्तु कृष्ण इस तरह का

व्यर्थ प्रयास नहीं करते। कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति का लक्ष्य है राधाराणी और वे अपनी शक्ति को राधाराणी के रूप में प्रकट करते हैं और फिर उनसे प्रेम-व्यवहार करते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्ण इस बहिरंगा शक्ति में आनन्द नहीं लेते, अपितु वे राधाराणी के रूप में अपनी अन्तरंगा शक्ति या ह्लादिनी शक्ति को प्रकट करते हैं और उनके साथ आनन्द लेते हैं। इस तरह कृष्ण अपनी अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति को भोग करने के लिए अपने आपको राधाराणी के रूप में प्रकट करते हैं। भगवान् के अनेक विस्तारों, अंशों तथा अवतारों में से भगवान् की यह ह्लादिनी शक्ति अग्रगण्य और मुख्य है।

ऐसा नहीं है कि राधाराणी कृष्ण से अलग हैं। राधाराणी भी कृष्ण हैं, क्योंकि शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं होता है। शक्ति के बिना शक्तिमान का कोई अर्थ नहीं है और शक्तिमान के बिना शक्ति नहीं होती है। इसी तरह राधा के बिना कृष्ण का कोई अर्थ नहीं है और कृष्ण के बिना राधा का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए वैष्णव-दर्शन सर्वप्रथम भगवान् की अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति को नमस्कार करता है और उसकी पूजा करता है। इस तरह भगवान् तथा उनकी शक्ति को सदैव राधा-कृष्ण कहकर सम्बोधित किया जाता है। इसी प्रकार जो नारायण की पूजा करते हैं, वे सर्वप्रथम लक्ष्मी का नाम लेकर लक्ष्मी-नारायण कहते हैं। इस तरह भगवान् राम की पूजा करने वाले सर्वप्रथम सीता का नाम लेते हैं। चाहे सीता-राम हो, राधा-कृष्ण या लक्ष्मी-नारायण, सबों में शक्ति सबसे पहले आती है।

राधा तथा कृष्ण एक हैं और जब कृष्ण आनन्द भोग करना चाहते हैं, तो वे अपने आपको राधाराणी के रूप में व्यक्त करते हैं। राधा तथा कृष्ण के बीच प्रेम का आध्यात्मिक विनिमय कृष्ण की अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति का वास्तविक प्रदर्शन है। यद्यपि हम कहते हैं कि "जब" कृष्ण चाहते हैं, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि "कब"। हम ऐसा इसीलिए कहते हैं, क्योंकि बद्ध जीवन में हम मान लेते हैं कि हर वस्तु का प्रारम्भ है; किन्तु आध्यात्मिक जीवन में प्रत्येक वस्तु परम पूर्ण है, इसका न तो आदि होता है न अन्त। फिर भी यह समझने के लिए कि राधा और कृष्ण एक हैं तथा वे पृथक् भी हो जाते हैं, हमारे मन में "कब?" यह प्रश्न स्वत: उठता है। जब कृष्ण ने अपनी ह्लादिनी शक्ति

का भोग करने की इच्छा की, तब उन्होंने अपने आपको राधाराणी के अलग रूप में प्रकट किया और जब उन्होंने राधा के माध्यम से अपने आपको जानना चाहा, तब वे राधाराणी से मिल गये और वही सम्मिलित रूप भगवान् चैतन्य कहलाता है। यह सब श्रील कृष्णदास कविराज द्वारा *चैतन्य-चरितामृत* के पाँचवे श्लोक में समझाया गया है।

अगले श्लोक में लेखक बताते हैं कि कृष्ण ने चैतन्य महाप्रभु का रूप क्यों धारण किया? ऐसा बतलाया जाता है कि कृष्ण ने राधा के प्रेम की महिमा जाननी चाही थी। कृष्ण जानना चाहते थे कि, "वह मुझसे इतना प्रेम क्यों करती है? आखिर मुझ में ऐसा कौन-सा विशेष गुण है, जो उसे इस तरह आकृष्ट करता है? और वह वास्तव में किस प्रकार से मुझसे प्रेम करती है?" यह विचित्र लगता है कि परमेश्वर कृष्ण किसी के प्रेम से इस प्रकार आकृष्ट हों। एक पुरुष किसी स्त्री के प्रेम को इसलिए चाहता है, क्योंकि वह अपूर्ण है और उसमें कुछ कमी है। स्त्री का प्रेम, वह शक्ति और वह आनन्द पुरुष में नहीं मिलता, अतएव मनुष्य स्त्री को चाहता है। किन्तु कृष्ण के साथ ऐसा नहीं है, क्योंकि वे स्वयं में पूर्ण हैं। इसीलिए कृष्ण ने आश्चर्य प्रकट किया : "मैं राधाराणी के द्वारा आकृष्ट क्यों होता हूँ? और जब राधाराणी मेरे प्रेम का अनुभव करती है, तब उसे कैसा लगता है?" इस प्रेम-व्यापार के सार का आस्वादन करने के लिए कृष्ण उसी तरह प्रकट हुए, जिस तरह समुद्र के क्षितिज पर चन्द्रमा प्रकट होता है। जिस तरह समुद्र मंथन से चन्द्रमा प्रकट हुआ था, उसी तरह आध्यात्मिक प्रेम-व्यापार के मंथन से चैतन्य महाप्रभु रूपी चन्द्रमा प्रकट हुए। निस्सन्देह, चैतन्य महाप्रभु का वर्ण सुनहला था, जैसाकि चन्द्रमा का होता है। यद्यपि यह आलंकारिक भाषा है, किन्तु इससे चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव के पीछे जो अर्थ है वह प्रकट होता है। उनके आविर्भाव की पूर्ण महत्ता की व्याख्या बाद के अध्यायों में की जायेगी।

चैतन्य-चरितामृत के सातवें श्लोक में चैतन्य महाप्रभु को नमस्कार करने के बाद कृष्णदास कविराज भगवान् नित्यानन्द को नमस्कार करते हैं। वे बतलाते हैं कि भगवान् नित्यानन्द बलराम हैं, जो महाविष्णु के उद्गम हैं। कृष्ण के प्रथम विस्तार बलराम हैं, जिनका एक अंश संकर्षण के रूप में प्रकट होता

है। संकर्षण के बाद वे प्रद्युम्न रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह उनके अनेक विस्तार होते हैं। यद्यपि विस्तार अनेक हैं, किन्तु श्रीकृष्ण ही स्रोत हैं, जैसी कि *ब्रह्म-संहिता* से पुष्टि होती है। वे उस मूल दीपक के तुल्य हैं, जिससे हजारों-लाखों दीपक जलाये जाते हैं। यद्यपि मूल दीपक से अनेक दीपक जलाये जा सकते हैं, किन्तु स्रोत के रूप में मूल दीपक की अपनी पहचान होती है। इस तरह कृष्ण अनेक रूपों में अपना विस्तार करते हैं और ये सारे विस्तार *विष्णु-तत्त्व* कहलाते हैं। विष्णु एक विशाल दीपक हैं और हम सब छोटे-छोटे दीपक हैं, किन्तु हैं सभी कृष्ण के ही अंश।

जब भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करनी होती है, तब विष्णु अपना विस्तार महाविष्णु के रूप में करते हैं। ये महाविष्णु कारणसागर में शयन करते हैं और अपने नासारन्ध्रों से श्वास के साथ सारे ब्रह्माण्डों को बाहर निकालते हैं। इस तरह महाविष्णु तथा कारणसागर से समस्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि होती है और ये सारे ब्रह्माण्ड, जिनमें हमारा ब्रह्माण्ड भी सम्मिलित है, कारणसागर में तैरते रहते हैं। इस सन्दर्भ में वामन की कथा आती है, जिन्होंने जब अपने तीन पग भरे, तो उनका पाँव इस ब्रह्माण्ड के आवरण को भेद गया और इस तरह से उनके पग से बने छेद से कारणसागर का पानी बहने लगा। कहा जाता है कि यही जलप्रवाह गंगा नदी बन गया। इसीलिए गंगा को विष्णु का सबसे पवित्र जल माना जाता है और वह सारे हिन्दुओं द्वारा हिमालय से लेकर बंगाल की खाड़ी तक पूजित है।

वास्तव में महाविष्णु बलराम के विस्तार हैं, जो कृष्ण के प्रथम विस्तार हैं और वृन्दावन की लीलाओं में कृष्ण के भाई हैं। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—इस महामन्त्र में "राम" बलराम के लिए आया है। चूँकि भगवान् नित्यानन्द बलराम के विस्तार हैं, अतएव "राम" शब्द भगवान् नित्यानन्द का भी सूचक है। इस तरह हरे कृष्ण, हरे राम में न केवल कृष्ण तथा बलराम को अपितु भगवान् चैतन्य तथा भगवान् नित्यानन्द को भी सम्बोधित किया जाता है। *चैतन्य-चरितामृत* की विषय-वस्तु मुख्यत: इस भौतिक सृष्टि से परे की विवेचना से सम्बन्धित है। जगत् का भौतिक विस्तार *माया* कहलाता है, क्योंकि इसका अस्तित्व शाश्वत नहीं है।

चूँकि यह कभी प्रकट होता है और कभी अप्रकट रहता है, इसलिए यह माया (भ्रामक) माना जाता है। किन्तु इस नश्वर जगत से परे एक उच्चतर प्रकृति है, जिसका संकेत *भगवद्गीता* (८.२०) में प्राप्त होता है :

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

"तथापि एक दूसरी अव्यक्त प्रकृति भी है, जो इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ से परे शाश्वत तथा दिव्य है। यह सर्वोच्च है और कभी विनष्ट नहीं होती है। जब इस जगत् का सब कुछ नष्ट हो जाता है, तब वह अंश उसी तरह बना रहता है।" इस भौतिक जगत् की एक व्यक्त स्थिति है और एक अव्यक्त स्थिति है। परा (श्रेष्ठ) प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त भौतिक प्रकृति से परे है। यह परा प्रकृति वह जीवन्त शक्ति है, जो समस्त जीवों के शरीरों में उपस्थित रहती है। यह शरीर अपरा (निकृष्ट) प्रकृति अर्थात् पदार्थ से बना हुआ है, किन्तु परा (श्रेष्ठ) प्रकृति से ही शरीर गतिमान होता है। इस परा प्रकृति का लक्षण है चेतना। इस तरह आध्यात्मिक जगत् में जहाँ हर वस्तु परा प्रकृति से बनी होती है, सब कुछ चेतन होता है। भौतिक जगत् में जड़ पदार्थ चेतन नहीं होते, किन्तु आध्यात्मिक जगत् में कोई भी वस्तु जड़ नहीं है। वहाँ की मेज भी चेतन है, धरती भी चेतन है, वृक्ष भी चेतन हैं—सभी चेतन हैं।

यह कल्पना कर पाना सम्भव नहीं है कि यह भौतिक जगत् कहाँ तक विस्तीर्ण है। भौतिक जगत् में हर वस्तु की गणना कल्पना या किसी अपूर्ण विधि से की जाती है, किन्तु वैदिक साहित्य भौतिक जगत् से परे क्या है, उसके विषय में वास्तविक सूचना देते हैं क्योंकि प्रायोगिक साधनों से इस भौतिक प्रकृति से परे किसी वस्तु की जानकारी पा सकना सम्भव नहीं है। जिन्हें केवल प्रायोगिक ज्ञान में विश्वास है वे वैदिक प्रमाणों में सन्देह कर सकते हैं, क्योंकि ऐसे लोग इतनी-सी गणना नहीं कर सकते कि यह ब्रह्माण्ड कितनी दूरी तक फैला है, न ही वे ब्रह्माण्ड के भीतर बहुत दूर तक जा सकते हैं। जो हमारी चिन्तन शक्ति से परे है वह *अचिन्त्य* कहलाता है। अचिन्त्य के विषय में तर्क या चिन्तन करना व्यर्थ है। यदि कोई वस्तु सचमुच अचिन्त्य है, तो उसके बारे में चिन्तन या प्रयोग नहीं किया जा सकता। हमारी शक्ति सीमित है और हमारा

इन्द्रिय-बोध भी सीमित है, अतएव हमें अचिन्त्य विषयवस्तु के बारे में वैदिक प्रमाणों पर ही निर्भर रहना होगा। हमें परा (श्रेष्ठ) प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान को बिना तर्क किये स्वीकार करना होगा। भला जिस वस्तु तक हमारी पहुँच नहीं है, उसके विषय में तर्क करना किस तरह सम्भव है? दिव्य विषयवस्तु को समझने की विधि स्वयं भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.१) में दी है, जहाँ कृष्ण चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन को बतलाते हैं :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

"मैंने योग के इस अविनाशी ज्ञान का उपदेश सूर्य देव विवस्वान को दिया और विवस्वान ने मनुष्य जाति के पिता मनु को दिया और मनु ने अपनी पारी में इसका उपदेश इक्ष्वाकु को दिया।" यही परम्परा-विधि है। इसी तरह *श्रीमद्भागवत* में वर्णन है कि कृष्ण ने ब्रह्माण्ड के प्रथम सृजित जीव ब्रह्मा के हृदय में ज्ञान प्रदान किया। ब्रह्मा ने वह उपदेश अपने शिष्य नारद को दिया और नारद ने उसे अपने शिष्य व्यासदेव को दिया। व्यासदेव ने इसे मध्वाचार्य को दिया और मध्वाचार्य से यही ज्ञान माधवेन्द्र पुरी को मिला, उनसे ईश्वर पुरी को तथा ईश्वर पुरी से चैतन्य महाप्रभु को मिला।

कोई पूछ सकता है कि यदि चैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण हैं, तो फिर उन्हें गुरु की आवश्यकता क्यों हुई? निस्सन्देह, उन्हें गुरु की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु वे *आचार्य* (उदाहरण देकर शिक्षा देने वाला) की भूमिका निभा रहे थे, अतएव उन्होंने गुरु स्वीकार किया। यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण ने गुरु स्वीकार किया था, क्योंकि यही पद्धति है। इस तरह भगवान् मनुष्यों के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं। किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् इसलिए गुरु स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनमें ज्ञान का अभाव है। वे तो मात्र गुरु-शिष्य परम्परा को स्वीकार करने की महत्ता पर बल देना चाहते हैं। उस परम्परा का ज्ञान वास्तव में स्वयं भगवान् से आता है और यदि यह ज्ञान अविच्छिन्न चला आये, तो वह पूर्ण होता है। भले ही हम उस मूल पुरुष से सम्पर्क न कर सकें, जिसने सर्वप्रथम उसे प्रदान किया, किन्तु हम इस संप्रेषण विधि से वही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि परम सत्य भगवान् कृष्ण

ने ब्रह्मा के हृदय में दिव्य ज्ञान स्थानान्तरित किया। हृदय से होकर ज्ञान प्राप्त करने की यह एक विधि हुई। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने की दो विधियाँ हैं—एक निर्भर करती है समस्त जीवों के हृदयों में निवास करने वाले परमात्मा स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर और दूसरी गुरु पर निर्भर करती है, जो कृष्ण का अंश होता है। इस तरह कृष्ण बाहर से तथा भीतर से, दोनों ही तरह से सूचना प्रदान करते हैं। हमें उसे केवल ग्रहण करना होता है। यदि ज्ञान को इस तरह से प्राप्त किया जाता है, तो फिर वह चाहे अचिन्त्य हो या न हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

श्रीमद्भागवत में वैकुण्ठ-लोकों के विषय में पर्याप्त सूचना दी हुई है, जो भौतिक ब्रह्माण्ड से परे हैं। इसी प्रकार *चैतन्य-चरितामृत* में भी प्रचुर परिमाण में अचिन्त्य सूचना दी गई है। प्रयोगात्मक ज्ञान के द्वारा इस सूचना को प्राप्त करने की चेष्टा सम्भव नहीं है। इस ज्ञान को मात्र स्वीकार करना होता है। वैदिक विधि के अनुसार *शब्द* अर्थात् दिव्य ध्वनि को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है। वैदिक ज्ञान में शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि यह शुद्ध है, तो इसे प्रामाणिक माना जाता है। यहाँ तक कि भौतिक जगत् में भी टेलीफोन या रेडिओ द्वारा हजारों मील से भेजी गई बहुत-सी सूचना को हम स्वीकार करते हैं। इस तरह हम अपने दैनिक जीवन में भी शब्द को प्रमाण मानते हैं। यद्यपि हम सूचना देने वाले को नहीं देख सकते, किन्तु उसकी सूचना को शब्द के आधार पर वैध स्वीकार करते हैं। तभी तो वैदिक ज्ञान के सम्प्रेषण में शब्द-ध्वनि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

वेद हमें बतलाते हैं कि इस भौतिक प्राकट्य से परे परव्योम में अनेक विस्तृत ग्रह हैं। यह भौतिक प्राकट्य समग्र सृष्टि का केवल एक लघु अंश है। इस भौतिक प्राकट्य में केवल यही ब्रह्माण्ड सम्मिलित नहीं है, अपितु अन्य असंख्य ब्रह्माण्ड भी सम्मिलित हैं। किन्तु ये सारे भौतिक ब्रह्माण्ड मिलकर सम्पूर्ण सृष्टि का केवल एक चौथाई अंश बनाते हैं। बाकी तीन चौथाई सृष्टि तो परव्योम (आध्यात्मिक आकाश) में स्थित है। उस व्योम में असंख्य ग्रह तैरते रहते हैं और वे वैकुण्ठ-लोक कहलाते हैं। प्रत्येक वैकुण्ठ-लोक की अध्यक्षता नारायण अपने चार विस्तारों—संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा

वासुदेव—के साथ करते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* के आठवें श्लोक में कृष्णदास कविराज कहते हैं कि यही संकर्षण भगवान् नित्यानन्द हैं।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सारे भौतिक ब्रह्माण्ड भगवान् के द्वारा महाविष्णु के रूप में उत्पन्न किये जाते हैं। जिस प्रकार स्त्री तथा पुरुष के मिलन से संतान उत्पन्न होती है, उसी प्रकार महाविष्णु अपनी पत्नी माया अर्थात् भौतिक प्रकृति से मिलते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.४) में कृष्ण के इस कथन से होती है :

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

"हे कुन्ती-पुत्र, यह समझना चाहिए कि समस्त योनियों की सृष्टि इस भौतिक प्रकृति के द्वारा सम्भव होती है और मैं उनका बीज प्रदन करने वाला पिता हूँ।" विष्णु माया अर्थात् भौतिक प्रकृति पर मात्र दृष्टिपात करके उसे गर्भित करते हैं। यह आध्यात्मिक विधि है। भौतिक रूप से हम अपने शरीर के केवल एक विशेष अंग से ही गर्भ स्थापित कर सकते हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण या महाविष्णु किसी भी अंग से गर्भ स्थापित कर सकते हैं। भगवान् मात्र दृष्टिपात से भौतिक प्रकृति के गर्भ में असंख्य जीवों को स्थापित कर सकते हैं। ब्रह्म-संहिता से पुष्टि होती है कि भगवान् का आध्यात्मिक शरीर इतना शक्तिशाली है कि उनके शरीर का कोई भी अंग अन्य किसी भी अंग का कार्य सम्पन्न कर सकता है। हम केवल अपने हाथों से या त्वचा से ही स्पर्श कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण दृष्टिपात द्वारा भी स्पर्श कर सकते हैं। हम केवल अपनी आँखों से ही देख सकते हैं, हम उनसे स्पर्श नहीं कर सकते या सुगन्ध नहीं ले सकते। किन्तु कृष्ण अपनी आँखों से सूँघ सकते हैं और खा भी सकते हैं। जब हम कृष्ण को भोजन अर्पित करते हैं, तो हम उन्हें खाते हुए नहीं देखते, किन्तु वे केवल भोजन पर दृष्टिपात करके खा लेते हैं। हम कल्पना ही नहीं कर सकते कि आध्यात्मिक जगत् में, जहाँ हर वस्तु आध्यात्मिक है, वस्तुएँ किस प्रकार से कार्य करती हैं। ऐसा नहीं है कि कृष्ण खाते नहीं या हम कोरी कल्पना करते हैं कि वे खाते हैं। वे सचमुच खाते हैं, किन्तु उनकी खाने की क्रिया हमसे भिन्न होती है। जब हम पूर्ण रूप से आध्यात्मिक स्तर पर होंगे,

तब हमारा और उनका खाना एक-समान होगा। उस स्तर पर शरीर का प्रत्येक भाग अन्य किसी भी भाग का कार्य कर सकेगा।

सृष्टि करने के लिए विष्णु को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। उन्हें ब्रह्मा को जन्म देने के लिए लक्ष्मी देवी की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि ब्रह्मा का जन्म एक कमल-पुष्प से होता है, जो विष्णु की नाभि से निकलता है। लक्ष्मी देवी विष्णु के चरणों पर बैठी रहती हैं और उनकी सेवा करती हैं। इस भौतिक जगत् में सन्तान उत्पन्न करने के लिए संभोग करने की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु आध्यात्मिक जगत् में पत्नी की सहायता के बिना पुरुष जितनी चाहे, सन्तानें उत्पन्न कर सकता है। अत: वहाँ संभोग जैसी कोई वस्तु नहीं है। चूँकि हमें आध्यात्मिक शक्ति का कोई अनुभव नहीं है, अतएव हम सोचते हैं कि विष्णु की नाभि से ब्रह्मा का जन्म मात्र कपोलकल्पना है। हम इसे जानते नहीं हैं कि आध्यात्मिक शक्ति इतनी शक्तिशाली है कि यह कुछ भी कर सकती है। भौतिक शक्ति तो कतिपय नियमों पर आश्रित है, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र है।

महाविष्णु के रोमकूपों के भीतर बीजों की तरह असंख्य ब्रह्माण्ड निवास करते हैं और जब वे श्वास छोड़ते हैं, तब सारे ब्रह्माण्ड प्रकट होते हैं। भौतिक जगत् में हमें ऐसा कोई अनुभव प्राप्त नहीं है, किन्तु पसीना आने के विषय में हमें इसके विकृत प्रतिबिम्ब का अनुभव होता है। हम महाविष्णु के एक श्वास की अवधि का अनुमान नहीं लगा सकते, क्योंकि एक बार की साँस में सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। ब्रह्म-संहिता में यह कहा गया है। ब्रह्माजी केवल एक श्वास की अवधि तक जीवित रहते हैं और हमारे काल-माप के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन अर्थात् १२ घण्टे ४,३२,००,००,००० वर्षों का होता है और ब्रह्मा अपने एक सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं। फिर भी ब्रह्मा का सारा जीवन महाविष्णु की एक श्वास में निहित रहता है। अतएव हमारे लिए महाविष्णु की साँस लेने की शक्ति का अनुमान लगा पाना सम्भव नहीं है। ये महाविष्णु भगवान् नित्यानन्द के केवल आंशिक प्राकट्य हैं। इसे *चैतन्य-चरितामृत* के लेखक नौवें श्लोक में वर्णन करते हैं।

दसवें तथा ग्यारहवें श्लोक में कृष्णदास कविराज वर्णन करते हैं कि

गर्भोदकशायी विष्णु और क्षीरोदकशायी विष्णु क्रमशः महाविष्णु के स्वांश विस्तार हैं। ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से प्रकट होते हैं और उस कमल की नाल के भीतर अनेक ग्रह-मण्डल विद्यमान हैं। फिर ब्रह्माजी समग्र मानव समाज, पशुसमाज—प्रत्येक वस्तु की सृष्टि करते हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड के भीतर क्षीर-सागर पर शयन करते हैं। इस ब्रह्माण्ड के वे नियन्ता तथा पालक हैं। इस तरह ब्रह्मा स्रष्टा हैं, विष्णु पालक हैं, और जब प्रलयकाल आता है, तब शिव सब कुछ समाप्त कर देते हैं।

इस प्रकार *चैतन्य-चरितामृत* के पहले ग्यारह श्लोकों में कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने चैतन्य महाप्रभु की विवेचना साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में और भगवान् नित्यानन्द की बलराम के रूप में की है, जो कृष्ण के प्रथम विस्तार हैं। इसके बाद बारहवें और तेरहवें श्लोकों में उन्होंने चैतन्य महाप्रभु के अन्य प्रधान पार्षद अद्वैताचार्य का वर्णन किया है, जो महाविष्णु के अवतार हैं। इस प्रकार अद्वैताचार्य भी भगवान् हैं या यों कहें कि भगवान् के विस्तार हैं। *अद्वैत* शब्द का अर्थ है द्वैतरहित और उनका नाम ऐसा है क्योंकि वे भगवान् से अभिन्न हैं। वे *आचार्य* भी कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने कृष्णभावनामृत का प्रसार किया। इस प्रकार वे चैतन्य महाप्रभु ही की तरह हैं। यद्यपि भगवान् चैतन्य स्वयं श्रीकृष्ण हैं, किन्तु वे सामान्य जनों को कृष्ण से प्रेम करने की विधि बतलाने के लिए भक्तरूप में प्रकट हुए। इसी प्रकार यद्यपि अद्वैताचार्य भगवान् हैं, फिर भी वे कृष्णभावनामृत का ज्ञान वितरित करने के लिए प्रकट हुए। इस प्रकार वे भी भगवान् हैं, जो भक्त के रूप में अवतरित हुए।

भगवान् चैतन्य की लीलाओं में कृष्ण पाँच विभिन्न अंशों में प्रकट होते हैं, जिन्हें पंच-तत्त्व कहते हैं, जिन्हें श्रील कृष्णदास कविराज *चैतन्य-चरितामृत* के चौदहवें श्लोक में नमस्कार करते हैं। कृष्ण तथा उनके सारे पार्षद भगवद्भक्तों के रूप में प्रकट होते हैं—श्रीकृष्ण चैतन्य, नित्यानन्द प्रभु, श्री अद्वैताचार्य, श्री गदाधर प्रभु तथा श्रीवास प्रभु। सभी प्रकार से चैतन्य महाप्रभु अपने सारे भक्तों की शक्ति के उद्गम हैं। चूँकि बात ऐसी है, अतएव यदि हम कृष्णभावना को सही ढंग से सम्पन्न करने के लिए चैतन्य महाप्रभु की शरण

लेते हैं, तो यह निश्चित है कि हम प्रगति करेंगे। नरोत्तम दास ठाकुर के एक गीत में कहा गया है, "हे भगवान् चैतन्य, मुझ पर कृपा करें। आपके समान दयालु दूसरा कोई नहीं है। मेरी यह याचना अत्यन्त अविलम्बनीय है, क्योंकि आपका ध्येय है पतितात्माओं का उद्धार करना और मुझ से बढ़कर अधिक पतित अन्य कोई नहीं है। इसलिए मैं आपसे प्राथमिकता के आधार पर कृपा की याचना करता हूँ।"

पन्द्रहवें श्लोक से, कृष्णदास कविराज गोस्वामी सीधे कृष्ण को नमस्कार करना प्रारम्भ कर देते हैं। कृष्णदास कविराज वृन्दावन के निवासी तथा महान् भक्त थे। वे अपने परिवार के साथ बंगाल के बर्दवान जिले के एक छोटे-से गाँव कटवा में रहते थे। वे अपने परिवार वालों के साथ राधा-कृष्ण की पूजा करते थे और एक बार जब उनके परिवार में भक्ति के विषय में कुछ गलतफहमी हुई, तो नित्यानन्द प्रभु ने स्वप्न में कृष्णदास कविराज को उपदेश दिया कि वे घर छोड़कर वृन्दावन चले जायें। यद्यपि वे अत्यधिक वृद्ध थे, किन्तु वे उसी रात वृन्दावन में निवास करने के लिए चल पड़े। जब वे वहाँ थे, तब वे चैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्यों, कुछ गोस्वामियों से मिले। वृन्दावन के भक्तों ने उनसे प्रार्थना की कि वे *चैतन्य-चरितामृत* लिखें। यद्यपि उन्होंने लेखन-कार्य वृद्धावस्था में शुरू किया, किन्तु श्री चैतन्य की कृपा से वह पूरा हो गया। आज चैतन्य महाप्रभु के दर्शन और जीवन के विषय में यह सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ है।

जब कृष्णदास कविराज गोस्वामी वृन्दावन में रह रहे थे, तब वहाँ मन्दिरों की संख्या अधिक नहीं थी। उस समय मदन-मोहन, गोविन्दजी तथा गोपीनाथ—ये ही तीन प्रमुख मन्दिर थे। वे एक वृन्दावनवासी के रूप में इन मन्दिरों के अर्चाविग्रहों को नमस्कार करते हैं और भगवान् से अनुग्रह करने की प्रार्थना करते हैं, "चूँकि आध्यात्मिक जीवन में मेरी प्रगति अत्यन्त मन्द है, अतएव मैं आपसे सहायता की याचना कर रहा हूँ।" *चैतन्य-चरितामृत* के पन्द्रहवें श्लोक में कृष्णदास सर्वप्रथम मदनमोहन विग्रह को सादर नमस्कार करते हैं, जो कृष्णभावनामृत में प्रगति करने में सहायक हो सकते हैं। कृष्णभावनामृत सम्पादित करते समय हमारा पहला कर्तव्य होता है कृष्ण को

जानना तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को जानना। कृष्ण को जानना स्वयं को जानना है और स्वयं को जानना कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को जानना है। चूँकि यह सम्बन्ध मदनमोहन विग्रह की पूजा करके सीखा जा सकता है, अतएव कृष्णदास कविराज गोस्वामी सर्वप्रथम उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

जब यह सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो सोलहवें श्लोक में कृष्णदास अभिधेय विग्रह गोविन्द को अपनी प्रणति निवेदन करते हैं। गोविन्द विग्रह को अभिधेय विग्रह कहा जाता है, क्योंकि वे हमें दिखाते हैं कि राधा और कृष्ण की सेवा कैसे की जाए। मदनमोहन विग्रह केवल यह स्थापित करते हैं कि "मैं आपका सनातन सेवक हूँ।" किन्तु गोविन्द के साथ सेवा की वास्तविक स्वीकृति दिखती है। गोविन्द वृन्दावन में नित्य निवास करते हैं। वृन्दावन के आध्यात्मिक जगत् में महलें चिन्तामणि के बने होते हैं, गाएँ प्रचुर दूध देने वाली होती हैं जिन्हें सुरभि कहा जाता है और वहाँ के वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते हैं, क्योंकि व्यक्ति जो भी कामना करता है, वे उसे पूर्ण करते हैं। वृन्दावन में कृष्ण सुरभि गौवों को चराते हैं और वहाँ की हजारों-लाखों गोपियाँ उनकी पूजा करती हैं, जो सब सक्ष्मीयाँ होती हैं। जब कृष्ण भौतिक जगत् में अवतरित होते हैं, तब यही वृन्दावन उनके साथ अवतरित होता है, जिस तरह किसी विख्यात व्यक्ति के साथ उसका दल चलता है। चूँकि जब कृष्ण आते हैं, तो उनकी भूमि भी साथ आती है, अत: वृन्दावन को इस भौतिक जगत् से परे अवस्थित माना जाता है। इसीलिए भक्तगण भारत में स्थित वृन्दावन की शरण लेते हैं, क्योंकि यह मूल वृन्दावन की प्रतिकृति माना जाता है। भले ही हम शिकायत करें कि यहाँ पर कोई कल्पवृक्ष नहीं है, किन्तु जब गोस्वामीगण वहाँ रह रहे थे, तब कल्पवृक्ष विद्यमान थे। ऐसा नहीं है कि कोई भी जाकर इन वृक्षों से माँगने लगे। पहले उसे भक्त बनना होगा। गोस्वामीगण किसी भी वृक्ष के नीचे केवल एक रात ठहरते थे और ये वृक्ष उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। सामान्य व्यक्ति के लिए यह बहुत अद्‌भुत लग सकता है, किन्तु ज्यों ज्यों मनुष्य भक्ति में प्रगति करता है, त्यों त्यों यह सब अनुभव होने लगता है।

वृन्दावन का वास्तविक अनुभव उन व्यक्तियों को ही हो पाता है, जो

भौतिक आनन्द से विमुख हो चुके हैं। एक महान् भक्त पूछता है, "कब मेरा मन भौतिक भोग की लालसा से शुद्ध हो सकेगा, जिससे मैं वृन्दावन का दर्शन कर सकूँ?" हम जितने ही अधिक कृष्णभावनाभावित होंगे और जितने ही अग्रसर होंगे, सारी वस्तुएँ उतनी ही आध्यात्मिक लगने लगेंगी। इस प्रकार कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने भारत के वृन्दावन को आध्यात्मिक आकाश में स्थित वृन्दावन जैसा ही माना और *चैतन्य-चरितामृत* के सोलहवें श्लोक में वे राधाराणी तथा कृष्ण को वृन्दावन में एक कल्पवृक्ष के नीचे रत्नजटित सिंहासन पर आसीन बतलाते हैं। वहाँ कृष्ण की प्रिय गोपियाँ राधा तथा कृष्ण की सेवा गाकर, नाचकर, ताम्बूल तथा जलपान देकर और उन्हें फूलों से सजाकर करती हैं। आज भी भारत में लोग झूलते हुए सिंहासनों को सजाते हैं और जुलाई-अगस्त मास में इस दृश्य को पुनरुज्जीवित करते हैं। सामान्यतया उस समय लोग वहाँ के अर्चाविग्रहों को नमस्कार करने वृन्दावन जाते हैं।

अन्त में कृष्णदास कविराज गोस्वामी पाठकों को गोपीनाथ विग्रह के नाम पर आशीर्वाद देते हैं। गोपीनाथ विग्रह गोपियों के स्वामी के रूप में कृष्ण हैं। कृष्ण सारी गोपियों को अपनी वंशी की ध्वनि से आकृष्ट करते थे और जब गोपीयाँ अपने घर के सारे कामकाज छोड़कर आ जाती थीं, तब कृष्ण उनके साथ नृत्य करते थे। ये सारे कार्यकलाप *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध में वर्णित हैं। ये गोपियाँ कृष्ण की बाल्यावस्था की संगिनी थीं और उनमें से बहुत-सी विवाहिता थीं, क्योंकि भारत में लड़कियों का विवाह सामान्यतया बारह वर्ष की आयु में हो जाता है। हाँ, लड़कों का विवाह अठारह वर्ष के पूर्व नहीं होता; अतएव कृष्ण, जो उस समय पंद्रह या सोलह वर्ष के थे, विवाहित नहीं थे। फिर भी वे इन लड़कियों को उनके घरों से बुलाते और अपने साथ नृत्य करने के लिए आमन्त्रित करते थे। यह नृत्य *रासलीला* कहलाता है और यह वृन्दावन की लीलाओं का सर्वाधिक उच्च स्तर का विलास है। इसीलिए कृष्ण गोपीनाथ कहलाते हैं, क्योंकि वे गोपियों के प्रिय प्राणनाथ हैं।

कृष्णदास कविराज गोस्वामी भगवान् गोपीनाथ से आशीर्वाद प्रदान करने को कहते हैं : "वे गोपीनाथ अर्थात् कृष्ण आपको आशीर्वाद प्रदान करें। आप गोपीनाथ द्वारा आशीष प्राप्त करें।" जिस प्रकार कृष्ण अपनी वंशी की मधुर

ध्वनि से गोपियों को आकृष्ट कर लेते थे, *श्रीचैतन्य-चरितामृत* के लेखक प्रार्थना करते हैं कि उसी प्रकार गोपीनाथ अपनी दिव्य ध्वनि से इसके पाठकों के मन को भी आकृष्ट कर लें।